समय समाज और संस्कृति

फिलहाल तो कोई मुक्तिमार्ग नहीं है!

देवेंद्र

देवेंद्र हिन्दी के वरिष्ठ कथाकार हैं। रचना का अंतरंग, समय बे समय, नालंदा में गिद्ध इनकी चर्चित पुस्तके रहीं हैं। स्वनिम पत्रिका पूर्व प्रधान संपादक रहे हैं।

बर्तोल्त ब्रेख्त के नाटक "लाइफ आफ गैलीलियो" में एक दृश्य आता है। गैलीलियो जेल की अंधेरी कोठरी में बन्द होता है और उसका शिष्य आंद्रिया उससे मिलने आता है। अपने गुरु और युग के इस महान वैज्ञानिक को यों अंधेरी कोठरी में बन्द फटेहाल देखकर आंद्रिया कहता है "कितना दुर्भाग्यशाली है वह देश जिसका कोई नायक नहीं।" शायद आंद्रिया को भरोसा है कि महाकाव्यों के उदात्त नायक आज अगर सत्ता में होते तो गैलीलियो के साथ ऐसा न होता। तब गैलीलियो कहता है- "दुर्भाग्यशाली है वह देश जो सिर्फ नायकों के बल पर जीता है।" तैतीस करोड़ देवी देवताओं वाला हमारा भारत देश वैसे भी वीरपूजा को दासता की तरह अपनाता रहा है। सामाजिक संरचना की बनावट और बुनावट में छुआछूत का भेद निचले पायदान तक जड़ जमाये बैठा है। यह हमारा एक ऐसा यथार्थ है जिस पर भारतीय संस्कृति का वितान फैला हुआ है। हमारी सांस्कृतिक गरिमा के इतिहास में ओझल एक बड़ी संख्या शताब्दियों से खेतों को अपने कठोर श्रम और पसीने से सींचती रही है। लेकिन प्रेमचन्द से पहले साहित्य के पन्नों पर इनकी कहीं कोई उपस्थिति दिख नहीं रही थी।

संस्कृत महाकाव्यों के बाद और आज से लगभग एक हजार साल पहले हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल में ढेर सारे वीरकाव्य रचे जा रहे थे। छोटे-छोटे राजाओं के दरबारी कवि लोग खूब सारे धीरोदात्त नायकों की रचना कर रहे थे। तब कैसी विडंबना है कि ठीक उसी समय भारत के राजनीतिक क्षितिज पर गुलामवंश का शासन स्थापित हो रहा था। हमारे एक-एक नायक कायरता और क्रूरता की मिसाल

बन कर विदा हो रहे थे। इसलिए महत्त्वपूर्ण यह नहीं कि किसी युग को उसका नायक मिल जाय। महत्व इस बात में ज्यादा है कि सामान्य जन को अपने युग का स्वर और साथ मिल जाय। प्रेमचन्द इसी सामान्य जन के कथाकार हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य में नायकों की जगह चरित्रों को रचा। जिस जाति के साहित्य में दो हजार साल पुरानी धीरोदात्त नायकों की समृद्ध परंपरा थी, उस पूरी की पूरी परंपरा को मात्र दो दशक की अपनी रचनाशीलता के बल पर अपदस्थ करते हुए उन्होंने हिंदी में यथार्थवाद की नींव डाली। उन्होंने साहित्य में यथार्थवाद को न सिर्फ मजबूत जमीन दी, बल्कि उसे आलोचनात्मक यथार्थवाद की मंजिल तक ले गए।

1915 में प्रेमचन्द ने "पंच परमेश्वर" कहानी लिखी थी। यह सिर्फ जुम्मन शेख और अलगू चौधरी की कहानी भर नहीं थी, यह उन संस्थाओं की कहानी थी, जिन पर ग्रामीण समाज की बुनियाद टिकी हुई थी। उसके दो दशक बाद उन्होंने जब 'सवा सेर गेहूँ', 'पूस की रात' और अंतिम कहानी 'कफ़न' लिखी तब उनका दृष्टिकोण बदल चुका था। इस विकास यात्रा में अचानक यकीन करना असंभव प्रतीत होता है कि सदियों का इतना बड़ा कार्यभार किसी एक अकेले व्यक्ति ने बहुत कम समय में कैसे सम्भव कर डाला है। भारत के इतिहास में बीसवीं सदी की एक बड़ी उपलब्धि हैं- प्रेमचन्द।

अपनी रचनात्मकता के लगभग दो दशकों के भीतर उन्होंने तकरीबन ढाई सौ के आस-पास कहानियाँ और दर्जन भर उपन्यास लिखे हैं। उपन्यास तो दुनिया के अलग-अलग देशों में खूब लिखे गए हैं। मैं नहीं कह सकता कि प्रेमचंद के उपन्यास महत्त्व की दृष्टि से उनमें कहाँ और कितनी जगह घेरते हैं? लेकिन वे निश्चित ही विश्वभाषा में हिंदी के अप्रतिम कहानीकार हैं।

मध्यकालीन बर्बरता से निकलने की कोशिश में नवजागरण कालीन भारतीय मेंधा की एक सशक्त और रचनात्मक अभिव्यक्ति हैं- प्रेमचन्द। उसमें भारतीय ग्रामीण जीवन की सबसे प्रामाणिक छवियां मूर्तमान हो उठी हैं। हजारों साल बाद जब लोग हमारे इस युग को जानना चाहेंगे तब प्रेमचन्द की रचनाएँ उन्हें सबसे ज्यादा प्रामाणिक किसी दस्तावेज की तरह याद आया करेंगी।

अपनी रचनात्मकता के लगभग दो दशकों के भीतर उन्होंने तकरीबन ढाई सौ के आस-पास कहानियाँ और दर्जन भर उपन्यास लिखे हैं। उपन्यास तो दुनिया के अलग-अलग देशों में खूब लिखे गए हैं। मैं नहीं कह सकता कि प्रेमचंद के उपन्यास महत्त्व की दृष्टि से उनमें कहाँ और कितनी जगह घेरते हैं? लेकिन वे निश्चित ही विश्वभाषा में हिंदी के अप्रतिम कहानीकार हैं।

पिछली सदी के नवजागरण में सामाजिक सुधारों के जितने भी प्रयास हो रहे थे, जितनी भी राजनीतिक हलचलें हो रही थीं, उन सबको समाहित करती भारतीय मेंधा और उसकी चिंताएँ, उसके सरोकार मानो कहानियों का विराट फलक बनकर फैलती चली गई।

इन कहानियों की भाषा ने भारतेंदु युग के हिंदी-उर्दू वाले भाषा संबंधी सारे विवादों को ह्मेशा-हमेंशा के लिए खत्म कर दिया। जिस साहित्य में हजारों साल पुरानी धीरोदात्त और कुलीन नायकों की परंपरा चली आ रही थी, वहाँ प्रेमचन्द ने गांव और वहाँ के लोगों के सामाजिक जीवन के रेशे-रेशे को खोल कर रख दिया। नए सौंदर्यबोध की सृष्टि की। इस क्रम में साहित्य के कुलीन घरानों ने उन्हें घृणा का प्रचारक तक कहा। साहित्य से नायकों के युग को हमेशा-हमेशा के लिए चलताऊ करके उन्होंने उनके समानांतर छोटे-छोटे चरित्रों के जीवन की पड़ताल की। उन्होंने "ठाकुर का कुआं" और "सवा सेर गेहूं" जैसी कहानियां लिखी। उनके ये चरित्र हमारे जाने पहचाने रोज सुबह-शाम की दिनचर्या में गुंथे हुए थे। इनकी हर कहानी पूर्ववर्ती युग के नवजागरण के किसी न किसी प्रश्न का भावात्मक तर्क भी है और वैचारिक उत्तर भी। अंग्रेजी राज और हिन्दू- मुस्लिम विवाद संबंधी मुद्दों पर तो प्रेमचन्द नवजागरण की सोच का भी अतिक्रमण कर जाते हैं। इन कहानियों में वही चरित्र थे जो शताब्दियों से अपने अभाव, अपनी दरिद्रता को भाग्य का अभिशाप मानते हुए चुपचाप राम की, कृष्ण की, शिवाजी और राणा प्रताप की कहानियां श्रद्धा और विस्मय से सुना करते थे। उन्हें क्या पता कि आज इस आधुनिक युग की नवोन्मेष बेला में वे खुद साहित्य के केंद्र बनने जा रहे हैं। ठीक वैसे ही जैसे गांधी जी की राजनीति के केंद्र बन रहे थे।

बीसवीं सदी का तीसरा और चौथा दशक! यह दोनों दशक भारतीय राजनीति के इतिहास में अपने स्वतंत्रता संघर्ष के कारण तो विशेष रूप से उल्लेखनीय है ही, हिंदी साहित्य में भी उससे पासंग भर भी कम नहीं है। दो विश्वयुद्धों के बीच विकसित हुआ प्रेमचंद के सम्पूर्ण कथा लेखन ने पिछली सदी से शुरू हुए नवजागरण की समूची अंतरात्मा का सार ग्रहण करते

हुए उसे एक विराट कथा फलक पर मूर्तमान किया। नवजागरण के भीतर सामाजिक सुधार की जो धारा राजा राममोहन राय या जोतिबा फुले के माध्यम से प्रवाहित हो रही थी, उसमें उन्हें राजनीतिक संरक्षण के लिए अंग्रेजी राज्य का समर्थन लेना और करना पड़ रहा था। बंगाली नवजागरण की एक बड़ी ट्रेजडी तो यह भी थी कि उसमें मुस्लिम विरोध का स्वर भी प्रबल था लेकिन प्रेमचन्द औपनिवेशिक सत्ता की इस दुरभिसंधि को पहचान रहे थे। उनका समूचा कथा लेखन यथार्थवाद की विभिन्न मंजिलों को समझने की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, बल्कि भारतीय ग्रामीण समाज की संरचना तथा उपनिवेशवाद विरोधी भारतीय जनता द्वारा चलाये जा रहे स्वतंत्रता संघर्ष के स्वरूप को जानने व समझने की उसमें अंतर्दृष्टि भी है। वे नवजागरण की सीमाओं के भी पार तक जाते हैं। भारतेंदु युग को आधुनिकता का प्रवेश द्वार कहा जाता है, लेकिन उस आधुनिकता की सर्वश्रेष्ठ परिणति हैं प्रेमचन्द। उनका साहित्य अपने समय का सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास भी है और समाजशास्त्र भी। इसीलिए उनका महत्व किसी भी समाजशास्त्री और इतिहासकार से बहुत ज्यादा बड़ा है। हो सकता है यह कुछ लोगों को अटपटा लगे लेकिन सच्चाई यही है कि बगैर प्रेमचंद को पढ़े औपनिवेशिक भारत की ग्रामीण संरचना, उसमें वर्गों का स्वरूप और भारत के स्वाधीनता संघर्ष को जानने-समझने की हर कोशिश लगभग आधी-अधूरी और खंडित होगी। उस युग की सामाजिक पृष्ठभूमि के आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तहों को प्रेमचन्द से गुजरे बगैर समझ पाना असम्भवसा है। क्योंकि वहां ग्रामीण जीवन की दिनचर्या है।

वह आदर्शों का युग था। जीवन और समाज के लगभग हर स्तर पर आदर्श की प्रतिष्ठा थी। कार्यक्षेत्र की भिन्नता के बावजूद गांधी और प्रेमचन्द उस युग के सहोदर जैसे थे।दोनों की चिंताओं के केंद्र भारत के गांव थे। प्रेमचन्द के ही समकालीन लेखक थे श्री सुदर्शन। उनकी कहानी है "हार की जीत"। कहानी के केंद्र में इलाके का कुख्यात डाकू खड़गसिंह है। आप देखिए कि कैसे उस डाकू के जीवन में आदर्श गहरे बैठा हुआ है। प्रेमचन्द के प्रारंभिक लेखन में इन आदर्शों की नैतिक प्रतिष्ठा हर जगह दिखाई देती है।लाख अभाव और पीड़ा के बावजूद लोगों पर इन आदर्शों के मूल्यगत संस्कार प्रभावी और निर्णायक थे। गोदान का किसान "होरी" इसी को मरजाद कहता है। मनुष्य के पास अगर यह मरजाद ही नहीं है तो कुछ नहीं। इस मरजाद का स्रोत कृषि आधारित गांवों के संयुक्त परिवार के ही मूल्य, संस्कार और उनकी भीतरी मर्यादा थी। मुख्यतः कृषि संरचना पर आधारित ये गाँव भारत की पहचान थे। जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं उसके उत्स सामंती युग के नायक, उनके वैभव, उनकी विजय पताकाएं नहीं, बल्कि ग्रामीण जीवन के संयुक्त परिवार हैं। जरूरी नहीं कि इसमें सब कुछ ठीक-ठाक ही हो, स्त्रियों और दलितों के प्रति संयुक्त परिवारों का बर्ताव देख कर भारतीय संस्कृति में आप स्त्रियों और दलितों के "स्पेस" को भी आसानी से देख सकते हैं। लेकिन प्रेमचंद उसे ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनके पात्र मानवीय गरिमा के आड़े आ रहे किसी भी तरह की परंपरा और सांस्कृतिक अवरोधों को निर्भय मुखाग्नि दे रहे थे।

साहूकारों के कर्ज में डूबे भारत के गांव शोषण की मार से टूट-उजड़ रहे हैं। लेकिन सिर्फ किसान इन्हीं वजहों से नहीं, उनके भीतर बैठी हुई ग्रामीण जीवन की जड़ता भी उन्हें रोज-रोज तोड़ रही है। गांव बदहाल हो रहे हैं। इस संबंध में मैं प्रेमचन्द की लगभग कम चर्चित कहानी "मुक्तिमार्ग" का जिक्र जरूर करना चाहूंगा।

"मुक्तिमार्ग" प्रेमचंद की एक ऐसी कहानी है जिसमें बहुत ज्यादा सहज ढंग से गांव का यथार्थ, वह यथार्थ जिसका गवाह हमारी पीढ़ी का बचपन रहा है, दिखाई देता है। कहानी में कुल तीन चरित्र हैं, जिनमें मुख्यतः दो चरित्र ही हैं। एक झींगुर महतो और दूसरा बुद्धू गड़ेरिया। ये दोनों चरित्र ग्रामीण संरचना में मध्यम जातियों से उठाये गए हैं।

गांव की परंपरागत संरचना में मध्यम जाति से सम्बंधित होने के बावजूद आजादी के बाद महतो, यानी कुर्मी या पटेल मध्यम जाति के समृद्ध बल्कि प्रभावशाली श्रेणी में आते हैं। गोदान का होरी भी महतो ही है। बुद्धू गड़रिया जिस जाति समुदाय से सम्बंधित है, वह आजादी के बाद अपने परंपरागत पेशे से उजड़ गयी है। यह गड़रिया जाति यादवों की तरह कोई प्रभावी सामाजिक भूमिका हासिल नहीं कर सकी है।

"मुक्तिमार्ग" कहानी अपनी भाषिक संरचना और शिल्प विन्यास की दृष्टि से भी बेहद सधी और गठी हुई कहानी है। सहज और सधे अंदाज में एक चित्रात्मक वितान के साथ शुरू होती है। इस तरह की अलंकारिक भाषा आमतौर पर प्रेमचन्द कम लिखते हैं। किसान की सम्पन्न प्रसन्नता का चित्रण- "सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुंदरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमण्ड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहलहाते हुए देख कर होता है।"

यहीं से झींगुर और बुद्धू की कहानी "मुक्तिमार्ग" शुरू होती है। धन का, जाति का और शक्ति का अहंकार किसान के जीवन में तबाही बन जाता है।

तीन बीघे ऊख की लहलहाती फसलों के नशीले सपनों और घमण्ड में जिस समय झींगुर डूबा हुआ था, तभी उसका सामना बारह कोड़ी भेड़ों के मालिक बुद्धू से हो जाता है। बुद्धू भी अपनी सम्पन्नता के अहंकार में डूबा था। बुद्धू का अहंकार उसकी आपराधिक प्रवृत्ति के कारण और भी उद्दंड है- "सारी दुनिया में चार रुपये के कम्बल बिकते हैं, पर यह पांच रुपये से नीचे बात नहीं करता।"

उसी गांव में हरिहर चमार है। प्रेमचंद लिखते हैं- "यह चमारों का मुखिया बडा दुष्ट आदमी था । सब किसान इससे थरथर कांपते थे।"

कहानी की पृष्ठभूमि में गांव है । भारत का औपनिवेशिक गांव, जो लगातार टूट बिखर कर विपन्न होता जा रहा है। छोटी जोत के किसान दिन ब दिन उजड़ कर मजदूर होते जा रहे हैं। मजदूर दिन भर मजदूरी करके रात को चैन से अपने घर परिवार के साथ रहते हैं। इस मायने में किसान की दशा उन मजदूरों से गयी बीती है, क्योंकि वह अपने खेतों में मजदूरों की तरह श्रम तो करता ही है, ऊपर से निजी पूंजी के मोह में उसे पल-पल उस खेत के साथ लगे रहना पड़ता है। पूरे-पूरे दिन और रात को भी। तब भी वह लगातार बर्बाद होता जा रहा है। इसी मायने में किसान की जीवन समस्याएं मजदूरों से कई गुना ज्यादा होती है। इसी दृष्टिकोण से "पूस की रात" कहानी भी लिखी गई है। "गोदान" उपन्यास में भी किसान का टूट कर मजदूर बनते जाना एक मुख्य त्रासदी है। छोटी जोत का होरी उपन्यास की शुरुआत में एक किसान होता है । जीवन संग्राम में हारता हुआ वह उपन्यास के अंत में एक मजदूर की त्रासदी का शिकार होता है। गोदान में शोषकों- दातादीन, मातादीन, सहुवाइन से लेकर रायसाहब तक के जो नाना रूप फैले हुए हैं, वही सब "पूस की रात" कहानी में नीलगायों की शक्ल में हल्कू का खेत चर जाते हैं। हल्कू किसानी के जंजाल से मुक्त होकर मजदूर होने के मार्ग पर चलना स्वीकार करता है । किसानों का टूट कर अनवरत मजदूर बनना, सामाजिक और ऐतिहासिक मुक्तिमार्ग है। यह मार्ग चाहे जितना त्रासद और कारुणिक हो लेकिन उसकी अंतिम ऐतिहासिक और सामाजिक परिणति यही है।

"मुक्तिमार्ग" कहानी में प्रेमचंद ने प्रत्यक्षतः किसी औपनिवेशिक शोषणतंत्र को किसानों की बदहाली का कारण नहीं बनाया है। कहने को कहा जा सकता है कि बुद्धू को जिस तरह गोहत्या में फंसाकर घेरा जाता है, उसमें सामंती ब्राह्मणवादी व्यवस्था का दुष्चक्र है । लेकिन यह कत्तई पूरा सच नहीं होगा । झींगुर और बुद्धू जड़ गंवई अहंकार के चलते अपने विनाश और बर्बादी के घोषणापत्र पर स्वेच्छया हस्ताक्षर करते हैं । आज गांवों के पतन के पीछे बेवजह की ढेर सारी मुकदमेंबाजी भी एक बड़ा कारण है, जिसकी जड़ें भारतीय ग्रामीण संरचना की चिर परिचित जड़ता है।

इस छोटी कहानी के निहितार्थ ज्यादा दूर तक दिखाई देते हैं। आज गांवों में बढ़ रही आपराधिक प्रवृत्तियों ने गांव की शक्ल सूरत एकदम से बदल दी है। हमारे बचपन के गांव अब अपराधों के दलदल बनते जा रहे हैं । पंचायती चुनावों के माध्यम से लोकतंत्र को गांवों तक ले जाने की इस पूरी प्रक्रिया ने गांवों को रक्तरंजित कर डाला है। इसका समाजशास्त्रीय अध्ययन करने में प्रेमचंद की ये कहानियां ज्यादा कारगर साबित होती हैं।

एक और बात है जिसकी ओर मैं इशारा करना चाहता हूँ। डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचन्द की कुछ सीमाओं को बताते हुए "सामंत का मुंशी: प्रेमचंद" आलोचना की पुस्तक लिखी है, वैसे तो उसका आधार "कफ़न" कहानी है। प्रेमचंद को लेकर उनकी मुख्य आपत्ति इस बात पर है कि कहानी के दोनों लंपट चरित्र जाति के चमार क्यों हैं, जबकि अमानवीकरण की प्रक्रिया सवर्णो में ज्यादा होती है। ऐसा करने के पीछे प्रेमचन्द पर दलित विरोधी संस्कारों का कुप्रभाव है। "मुक्तिमार्ग" कहानी में हरिहर नामक जो चमार जाति का चरित्र दुष्ट के रूप में गढ़ा गया है, उसे देखते हुए डॉ. धर्मवीर की बात काफी हद तक पुष्ट होती जान पड़ती है। बावजूद इन छोटी मोटी आपत्तियों के सचाई यह है कि बाद के दौर में पैदा होने वाली कथाकारों की एक भरी-पूरी पीढ़ी ने प्रेमचन्द से कहानी का ककहरा सीखा है । उनकी कहानियों में हमारे बचपन का गांव ज्यादा प्रामाणिक दिखाई देता है।

इतिहास में पात्र सच होते हैं, लेकिन उनके बारे में जो कहा और सुनाया जाता है अक्सर बेसिर पैर वाला झूठ का पुलिंदा होता है । इसकी तुलना में कहानियों में पात्र भले अस्तित्व विहीन और झूठे होते हैं, लेकिन उनका जीवन सच होता है। इतिहास की किताबों में गांधी या सुभाष अकेले पात्र होते हैं। कोई दूसरा नहीं होता । लेकिन होरी धनिया हर जगह मौजूद मिलते हैं। उनका जीवन एक व्यक्ति का जीवन भर नहीं होता है उसमें पूरे युग और समाज का जीवित यथार्थ होता है । प्रेमचन्द इसी यथार्थ के कथाकार थे।